यशपाल साहित्यः नैतिकता की सामाजिक तलाश

प्रफुल्ल कोलख्यान

कहीं आसपास है वह जगह जहाँ हम गये नहीं
उसकी खुशबू आती रहती है हम तक
गौर से देखें तो दिखती हैं नदियाँ चौड़ी नीली
तटों पर उनके झुके हुए बादल
जिनके चेहरे पानी पर बहते जाते हैं
और सिहरन से भरे हुए वे अनजाने पुल
जिन पर तेज हवाओं की आवाजाही है
जिन्हें पार नहीं किया हमने जो छूट गये हम से
उनकी रोशनियाँ जैसे स्वप्न में जलती रहती हैं
एक अकेलापन है जिसकी याद किसी और
अकेलेपन में आती है
वह दृश्य बचा रहता है जो चारों तरफ
अदृश्य हुआ जाता है।[1]

- मंगलेश डबराल

हिंदी के महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों में यशपाल का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यशपाल उन साहित्यकारों में हैं, जिन्हें एक बार नहीं, बार-बार पढ़े जाने की जरूरत है। रचना के एकांत में समाज का मर्म साहित्य में उतरता है। रचनाकार के एकांत में उतरकर समाज का यह मर्म समाज के अनेकांत का भाव-संयोजन करता हुआ पाठक की एकांत-संवेदना का अंग बनता है। इस प्रकार, साहित्य एकनिष्ठ एकांत के आश्रय में संभव होकर अपने अनंत होने की बहुनिष्ठ संभावनाओं की सार्थकता के पंख अनेकांत के आकाश में खोलता है। महत्त्वपूर्ण

साहित्य पाठक-दर-पाठक तो गतिमान बना ही रहता है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी भी गतिमान बना रहता है। कहना न होगा कि प्रत्येक पीढ़ी साहित्य को नये सिरे से पढ़ती है। ऐसा करते हुए प्रत्येक पीढ़ी अपने अंदर उस साहित्य को बार-बार पुनर्सृजित करती है। इस प्रक्रिया में पहले का बहुत सारा महत्त्वपूर्ण वर्तमान में छन कर बाहर निकल जाता है। बहुत-कुछ ऐसा भी होता है जो पहले की तुलना में नये सिरे से उभार पा कर अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगता है। पाठ के पुनर्सृजन की यही प्रक्रिया पुराने साहित्य में अर्थ-प्रवाह के नवोन्मेष की संभावनाएँ रचती हैं। नवोन्मेष की संभावनाएँ हवा में नहीं पैदा होती हैं। इन संभावनाओं के पीछे जीवंत सामाजिक प्रवाह सतत सक्रिय रहता है। इस सतत सामाजिक प्रवाह की जीवंतता से जिस साहित्य का जितना संबंध और सरोकार बचा रहता है, वह साहित्य उतना ही प्रासंगिक होता है। दुनिया के एक-ध्रुवीय बनने की ओर बढ़ने का हवाला देकर 'नई विश्व-व्यवस्था' के जन्म के सोहर के शोर से समाज-व्यवस्था के हासिल स्वरूप में खलबली मची हुई है। इस शोर से आकांक्षित समाज-व्यवस्था के प्रगतिशील स्वप्न भी कम तहस-नहस नहीं हुए हैं। यशपाल साहित्य में अनुरचित एवं प्ररक्षित प्रयोजनीय, प्राणवंत और प्रेरक पक्षों एवं वस्तु को जीवंत सामाजिक प्रवाह के सातत्य का संदर्भ में देखना दिलचस्प और जरूरी है। बीज-वाक्य के दुहराव से पुनरुक्ति का दोष नहीं लगता है। लगता, तो सारा जप-विधान ही दूषित नहीं मान लिया जाता! इसलिए, पुनरुक्ति दोष के खतरे की उपेक्षा करते हुए फिर से ध्यान में लाना जरूरी है कि साहित्य को समग्र जीवन — समाज, लेखक और पाठक के जीवन की समग्रता — से अलग कर नहीं समझा जा सकता है। हमें निश्चित रूप से साहित्य को समझने के लिए लेखक के व्यक्ति जीवन के साथ ही उसके और उसके पाठकों के सामाजिक जीवन के भी गत्यात्मक संदर्भ ग्रहण करने ही पड़ते हैं। किसी साहित्य में नवोन्मेष की संभावनाएँ रचनेवाले पाठक पीढ़ियों के साथ बदलते रहते हैं। जाहिर है, यशपाल के साहित्य को समझने के लिए उनके व्यक्ति-जीवन तथा उस समय के उनके पाठकों के सामाजिक-जीवन के साथ ही आज के पाठकों के सामाजिक-जीवन से भी सामान्य संदर्भ ग्रहण करना उचित होगा।

साहित्य और समाज के सरोकरों पर सोचते हुए भाषा के संलग्न सामाजिक वैशिष्ट्य को — सभ्यताओं, समुदायों और समाजों के बीच टकराव के लिए नहीं, अनिवार्य मिलाप के लिए — भी ध्यान में अवश्य ही रखना चाहिए। कुछ बड़े विचारकों का दल जातीयता को ही अमान्य अवधारणा बताता है। यह एक अलग प्रसंग है। उस पर अलग से ही बात की जा सकती है। बहरहाल यह कि जातीयता के होने को स्वीकार

किया जाए तो, अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में हिंदी के इस वैशिष्ट्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी जातीय भाषा न होकर महाजातीय भाषा है। साहित्य की संवेदना मूलत: महाजातीय और ग्लोबल होती है। स्वाभाविक है कि हिंदी की साहित्यिक संवेदना भी महाजातीयतात्मक और ग्लोबल है। जबकि सामाजिक संवेदना अनिवार्यत: जातीयतात्मक और लोकल ही होती है, महाजातीयतात्मक और ग्लोबल नहीं। जातीय, महाजातीय और ग्लोबीय संवेदना की मूल अंतर्वस्तु को एक-दूसरे के सातत्य और सहमेल में नहीं समझ पाने के कारण साहित्य के पाठ में कई तरह की असंगतियाँ पैदा हो जाती हैं। नतीजा यह कि इस तरह की असंगतियों से उत्पन्न भ्रांतियों के कारण कभी-कभी हम जाने-अनजाने जातीय, महाजातीय और ग्लोबीय संवेदना को दूसरे से भिड़ाने लग जाते हैं। हिंदी साहित्य के पाठ में इस तरह की असंगतियों और भ्रांतियों के अंधकूप के लिए अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तुलना में कुछ अधिक ही जगह है। इसलिए हिंदी साहित्य के मूल्यवान पाठों के रिक्थ के पुनर्सृजन में अतिरिक्त सावधानी की भी कुछ अधिक ही जरूरत है। आज की तारीख में हिंदी की अड़तालीस बोलियाँ, बल्कि इन्हें हिंदी की बोलियाँ कहने से अधिक उपयुक्त हिंदी की सहभाषाएँ कहना है, हैं और दस राज्यों में फैला विस्तृत भू-भाग है। इन अड़तालीस बोलियों या सहभाषाओं को बोलनेवाली और विविध भौगोलिक एवं आर्थिकी के परिक्षेत्र में मूल रूप से रहनेवाली और यहाँ से बाहर निकलकर पूरे भारत में फैली हुई इतनी बड़ी आबादी की सामाजिकताओं की नितांत स्थानिक एवं लघु परंपराओं के साथ ही इसकी महजातीयतात्मक महान परंपराओं के बीच निरंतर जारी अंतर्क्रियाओं के सहमेल में भारत की राष्ट्रीय परंपराओं के सातत्य को समझे बिना हिंदी की महाजातीय बनावट एवं हिंदी साहित्य के अंतर्निहित वैशिष्ट्य को समझा नहीं जा सकता है। इन्हीं अंतर्क्रियाओं और सातत्य के संदर्भ में आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रेमचंद, यशपाल, रेणु और निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और शमशेर आदि के बीच के सामान्य और वैशिष्ट्य को अलग-अलग भी और साथ-साथ भी समझा जा सकता है। इसके बिना प्रसाद, अज्ञेय और रघुवीर सहाय के महत्त्व को भी नहीं समझा जा सकता है। इतना ही नहीं आगे के महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के सामान्य और वैशिष्ट्य को समझने के लिए भी इस तत्त्व की अनदेखी करना न तो साहित्य की समझ के लिए शुभ हो सकता है और न उसकी सामाजिकताओं के लिए ही शुभ हो सकता है। हिंदी साहित्य के पाठकों की संख्या में आ रही निरंतर गिरावट के रहस्य की एक-दो पर्तों को जातीय संवेदना को अवहेलित कर सीधे महाजनपदीय या ग्लोबल मिजाज के साथ प्रस्तुत होने के संदर्भ से भी खोला ही जा सकता है; समकालीन हिंदी साहित्य में एक-सा-पन, निजत्वहीनता या वैशिष्ट्य विलोप जैसी शिकायतों को भी अपेक्षाकृत अधिक ठोस ढंग से समझा जा सकता है। प्रसंगवश ध्यान में रखा जा सकता है कि आज के भूमंडलीय वातावरण में पूँजी को

वैश्विक और संवेदना को स्थानिक बनाने की परियोजना पर सचेत ढंग से काम हो रहा है। यह परियोजना साहित्य की आत्म-दृष्टि और विश्व-दृष्टि के सहज संतुलन की नाभिकीय संरचना में भारी विचलन पैदा कर सकती है। महत्त्वपूर्ण साहित्य के गुणसूत्रों के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचने में बहुत मशक्कत नहीं करनी पड़ेगी कि तत्काल को अवहेलित किये बिना कालातीत, व्यक्ति को अवहेलित किये बिना सामाजिक और देश/ राष्ट्र को अवहेलित किये बिना देशातीत/ राष्ट्रातीत होना ही साहित्य को महत्त्वपूर्ण बनाता है। यशपाल के साहित्य के महत्त्व को भी इस नजरिये से समझा जा सकता है। यशपाल का साहित्य स्वतंत्रता आंदोलन के तत्काल में कालातीत, व्यक्ति की प्रकृति के सातत्य में समाज और देश के संदर्भ देशातीत की संवेदना को अपने साहित्य में समायोजित करता है। यशपाल के साहित्य को कमतर साबित करने के लिए उनकी रचना-प्रक्रिया पर आरोप लगाया जाता है कि वे 'कहानी को दृष्टांत के रूप में ग्रहण करते हैं, इसलिए उनकी कहानियाँ बहुत-कुछ पूर्व-नियोजित (कांट्राइव्ड) होती हैं।'[2] आरोप लगानेवाले प्रेमचंद को भी नहीं बख्शते हैं। वे कहते हैं, 'उनकी (यशपाल की) रचना-प्रक्रिया प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया से मिलती-जुलती है - दोनों के मन में पहले कोई विचार उठता है; फिर पात्र, स्थिति, घटना आदि को अन्वेषित कर लिया जाता है।'[3] वे बताते हैं कि 'इस नियोजन का मुख्य आधार विचार और कल्पना है।'[4] क्या जीवन में, इसीलिए साहित्य में भी, 'पूर्व-नियोजन' का कोई महत्त्व नहीं होता है? कौन-सा साहित्य बिना 'पूर्व-नियोजन' के संभव होता है? असल में, इस तरह के विचारकों को दिक्कत साहित्य के 'पूर्व-नियोजन' से नहीं होती है। 'पूर्व-नियोजन' के मुख्य आधार में 'कल्पना' के उपयोग से भी दिक्कत नहीं होती है। दिक्कत होती है 'पूर्व-नियोजन' में 'विचार' के विनियोग से! ऐसे लोगों का जोर साहित्य में 'विचारहीन' और निराधार 'कल्पना' के महत्त्व को रेखांकित करने पर होता है। मजे की बात है कि जो लोग पूरे जीवन को ही पूर्णत: 'पूर्व-नियोजित' (कांट्राइव्ड) होने की बात बताते नहीं अघाते, अर्थात भाग्यवाद पर जिन्हें अगाध विश्वास होता है, वे लोग ही प्रेमचंद और यशपाल जैसे साहित्यकारों के साहित्य पर 'पूर्व-नियोजित' (कांट्राइव्ड) होने के आरोप लगाते हैं! यशपाल का साहित्य मुख्यत: विचार का साहित्य है। यही इसकी शक्ति भी है और सार्थकता भी। कम-से-कम हिंदी समाज में साहित्य के मार्फत विचार, खासकर मार्क्सवाद की ओर अनुप्रेरित करनेवालों में यशपाल साहित्य का स्थान अनन्य है। कहना न होगा कि मार्क्सवाद की ओर अनुप्रेरित करने का अर्थ ही होता है ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता की वैज्ञानिक समझ के आधार पर समाज सापेक्ष समता, स्वतंत्रता और निर्विशिष्ट बंधुत्व को

संभव बनाने के लिए भौतिक व्यवस्था के निर्माण के पराक्रमी स्वप्न को सिरजने की ओर बढ़ना। एक ऐसी व्यवस्था को आयत्त करना जिसमें पूँजी से अधिक श्रम को एवं धन से अधिक जन का महत्त्व हो। स्वभावत:, 'उन्होंने जहाँ मार्क्सवाद के अनुरूप धन की विषमता पर प्रहार करते हुए भौतिकवादी नैतिक मूल्यों का समर्थन किया, वहाँ उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फलत: यौन-चेतना के खुले चित्र भी उनकी कहानियों में मिलते हैं।'[5] मानव मन को समझने में फ्रायड का महत्त्व कम नहीं है। लेकिन यशपाल साहित्य में फ्रायड के मनो-सिद्धांतों की कच्ची और यांत्रिक समझ का उल्था नहीं है। यशपाल का अपना ठोस जीवनानुभव भी है। यशपाल देश की स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा चुके थे। लेकिन प्रेम तो प्रेम है! इस प्रेम के कारण अपने क्रांतिकारी साथियों के द्वारा उनके लिए मौत की सजा मुकर्रर की गई थी! इसके पीछे दूसरे कारण भी रहे होंगे लेकिन 'नैतिक कारणों' के होने से भी इनकार नहीं किया जा सकता है। समाज में प्रचलित बाह्य नैतिकता से जुड़ी इस तरह की स्थिति का अनुभव जिसे अपने जीवन में हुआ हो उसकी नैतिक तड़प का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यही वह तड़प है जो नई नैतिकता की तलाश और उसके सामाजिक अर्जन से यशपाल के साहित्य को गहराई से जोड़ती है। प्रकाशवती पाल के शब्दों में इस प्रसंग को समझा जा सकता है। 'दरअसल इश्क करना अच्छा लगता है। इश्क की बात करना, सुनना भी सुख देता है। इश्क की कहानियाँ पढ़ने में भी मज़ा आता है। इश्क के कारण मार खाये व्यक्ति से सहानुभूति भी होती है, लेकिन प्रेमी-प्रेमिका को बेदर्द समाज के सामने जो खामियाजा या मूल्य देना पड़ता है वह भी भुक्तभोगी ही बता सकता है।'[6] यह नैतिकता की जड़ीभूत अवधारणा ही थी कि 'साथियों ने इलज़ाम लगाया कि हम मलाई, मक्खन, रबड़ी उड़ाते थे।'[7] 'फैक्टरी में हम सब रात-दिन काम कर रहे थे और अपनी सफलताओं पर बहुत खुश थे। एक दिन कैलाशपति यशपाल जी के पास संदेश लाये कि उन्हें कानपुर में सेंट्रल कमेटी की मीटिंग में भाग लेना है, जबकि हकीकत यह थी कि मीटिंग हो चुकी थी और कमेटी यशपाल जी को गोली से उड़ा देने का फैसला भी ले चुकी थी।'[8] इस नैतिक तड़प को अगर हम समझ नहीं पायेंगे तो यह भी नहीं समझ पायेंगे कि जिन्हें 'यौन-चेतना के खुले चित्र' कहा जा रहा है, वे असल में रिश्तों के यथार्थ को नये सिरे से अर्जित करने के महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं।

निश्चित रूप से यशपाल का साहित्य उत्तर प्रेमचंद युग में एक नये रंग और ढंग के साथ हिंदी के गद्य साहित्य को नया आयाम देता है। इस नये आयाम के बनाव में हिंदी प्रदेश के पिश्चिमी सीमांत की स्थानिक-परंपराओं की अंर्तक्रियाओं का योगदान तो है ही, मध्यवर्ग के उदय

और औद्योगीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत जीवन-शैली में आये बदलाव का भी योगदान है। कहना न होगा कि सामाजिक व्यवस्था में बदलाव के साथ ही सामाजिक और वैयक्तिक नैतिकता के नियामक तत्त्वों में भी बदलाव आता है। सामाज-व्यवस्था में नये तत्त्वों के जुड़ाव के साथ ही नैतिक-व्यवस्था में भी नये तत्त्वों के समायोजन की माँग बढ़ जाती है। पुरानी नैतिक-व्यवस्था अपर्याप्त और रूढ़िग्रस्त ठहरने लगती है। नैतिक रूढ़ियों को तोड़ने और उसकी अपर्याप्ता को समाप्त करने का काम नये अनुकूल विचारों को संस्कार में ढालने से ही होता है। यह सांस्कृतिक काम है। इस सांस्कृतिक काम में साहित्य की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साहित्य समाज की न्याय-चेतना और नैतिक-सरणियों के उलझावों को वैयक्तिक एवं अंतर्वैयक्तिक संबंधों के निदर्शन के माध्यम से उसकी परिणतियों को बार-बार समाज के सामने लाता है। इसमें कई बार नैतिकता की पारंपरिक मान्यताओं का गहरे खरोंच और घाव भी लगते हैं। 'वर्ग-संघर्ष, मनोविश्लेषण और पैना व्यंग्य उनकी कहानियों की अनन्य विशेषताएँ हैं। किसी सामाजिक अथवा नैतिक रूढ़ि पर प्रहार करते हुए वे पाठकों के रूढ़ संस्कारों पर गहरा आघात करते हैं। शॉक ट्रीटमेंट का यह तरीका प्राय: उनकी प्रत्येक कहानी में मिलेगा।'[9] ठीक इसी अर्थ में यशपाल के साहित्य का वैशिष्ट्य यह है कि वह नई नैतिकता की तलाश बहुत ही गंभीर ढंग से करने का प्रयास करता है – कई बार इसमें संगत सफलता भी मिलती है तो कई बार असंगत विफलता भी। यशपाल को साक्षी माना जा सकता है; उन्हीं के शब्दों में, 'अपनी रचनाओं से समाज को मनोरंजन का संतोष देने के साथ-साथ इन रचनाओं द्वारा समाज को सचेत कर सकने के, अपने विचार में कर्त्तव्यपूर्ति के संतोष के लिए भी, यत्न करता रहा हूँ। मेरी रचनाएँ केवल मनोरंजक घटनाचक्र या विवरण नहीं बन पाई हैं। इन रचनाओं से पाठकों को प्राय: ही मनोरंजन की तह या पार्श्व में अपने संस्कारों या अभ्यस्त विश्वासों पर खरोंच या चुभन की असुविधा भी अनुभव हो जाती है। इसका कारण मेरी कहानियों के सूत्र परंपरागत मान्यताओं का समर्थन नहीं अपितु अधिकांश में इन मान्यताओं के प्रति विद्रूप या विरोध का होना रहा है। इसलिए परंपरा और यथास्थिति के हामियों ने मेरी रचनाओं को अनैतिक, अश्लील और कुरुचिपूर्ण भी कहा।'[10]

यह सही है कि नैतिकता का मूलाधार सिर्फ यौन संदर्भों से ही न तो तय होता है और न सीमित ही होता है। फिर भी, यह तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि समाज की नैतिक-संरचना का क्षेत्र चाहे जितना विस्तृत हो उसकी नाभिकीयता में यौन-संदर्भों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। परिवार, सामाजिक पहचान और संपत्तियों के उत्तराधिकार के मामलों में किसी भी समाज में यौन संबंधों और संदर्भों का

अपना महत्त्व होता है। फिर आज के युग में जब तमाम तरह की विषमताओं, खासकर लैंगिक विषमताओं, जो निश्चित रूप से एक तरह की सामाजिक त्रुटि है, के हवाले से 'फ्री सेक्स' और 'सेक्स वर्कर' की सामाजिक स्वीकृति की माँग को वैध बनाने की आवाज धीरे-धीरे मजबूत हो रही है, तब यशपाल के साहित्य का महत्त्व काफी बढ़ गया लगता है। इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती है कि यशपाल के यहाँ काम-प्रसंग जीवन-प्रसंग के समग्र का अंश बनकर आते हैं; जीवन-प्रसंग का समग्र बनकर नहीं आते। यह एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। इसी अंतर के कारण यशपाल का साहित्य अश्लील हो जाने से न सिर्फ बचता है बल्कि अश्लीलता के विरुद्ध नव सामाजिक नैतिकता की मानवीय तलाश भी करता है। नैतिकता की पुरानी सरणियाँ जिनका अधिकांश धर्म के ही किसी-न-किसी परिप्रेक्ष्य से बनता है उनकी प्रकृति-विरुद्धता को भी यशपाल बड़े ही संवेदनशील ढंग से उठाते हैं। धर्म के सरोकार से जिस ब्रह्मचर्य का गुणगान और ज्ञान का दान धर्म के पहरेदार करते आये हैं, उनके इन अप्राकृतिक आग्रहों को कहानी 'ज्ञानदान' बहुत ही मार्मिक ढंग से उठाती है। इतनी मार्मिक ढंग से कि इसमें सिद्धि और ब्रह्मचारी में से किसी की भी खिल्ली नहीं उड़ाई गई है। पाठक इन्हें पतित हुआ नहीं मानता। बल्कि यह कहना होगा कि पाठक को उनका यही आचरण मानवीय लगता है। प्रसंग देखा जा सकता है –

''सिद्धि सहसा चौंककर अपने पैरों पर खड़ी हो गई –'ज्ञानधन, अज्ञान का अंधकार मुझे घेरे ले रहा है। मुझे ज्ञान दीजिए!' ब्रह्मचारी ने कुछ हतोत्साह होकर उत्तर दिया – 'ज्ञान! ... ज्ञान चेतना का विकास है।... चेतना का द्वार इन्द्रियाँ हैं... प्रकृति स्वयं उन्हें मार्ग दिखाती है। ब्रह्मचारिणी, प्रकृति का हनन और दमन अज्ञान है।' ब्रह्माचारिणी ने निर्बलता का अनुभव कर आश्रय के लिए अपने दानों बाहु, शरीर के बोझ सहित ब्रह्मचारी के कंधे पर रख दिए।''[11]

इस संदर्भ में दिव्या के प्रसंग को भी देखा जा सकता है –

''दिव्या ने निष्पलक दृष्टि आचार्य के मुख पर स्थिर किये गंभीर स्वर में उत्तर दिया: 'आचार्य, कुलवधु का आसन, कुलमाता का आसन, कुल महादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस सम्मान के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है परंतु आचार्य कुल माता और कुल महादेवी निरादृत वैश्या की भाँति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधु का सम्मान, कुल माता का आदर और कुल महादेवी का अधिकार आर्यपुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं उसे भोग करनेवाले पराक्रमी पुरुष

का सम्मान है। आर्य, अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है।’[12]

‘स्वतंत्र’ और ‘आत्मनिर्भर’ होने की सापेक्षिक आकांक्षा हर हाल में मनुष्य की नैतिक जरूरत के रूप में स्वीकार्य होनी ही चाहिए। अपने ‘स्वत्व’ का त्याग करके नारी क्या कोई भी नैतिक नहीं बना रह सकता है। क्योंकि बिना इच्छा स्वातंत्र्य के, नैतिकता का कोई प्रसंग ही नहीं बनता है और जिसने अपने ‘स्वत्व’ का त्याग कर दिया हो, उसके प्रसंग में इच्छा स्वातंत्र्य का कोई संदर्भ नहीं बनता है! इसलिए,

‘‘कुछ क्षण मौन रहकर दिव्या बोली: ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगी? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।’

आगे पूछती है *: ....* ‘भंते भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?’[13]

यह नई नैतिकता की ही माँग है कि नैतिक सरणियों की नाभिकीयता से ‘निर्वाण’ और ‘मोक्ष’ को विस्थापित कर ‘सृष्टि’ और ‘निर्माण’ का संस्थापन हो। इसी माँग के अनुरूप है यह संवाद,

‘‘भिक्षु ने धीर स्वर में उत्तर दिया: ‘देवी भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है। दिव्या ने मंद परंतु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया ‘नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है।’[14]

धर्म नैतिक सरणियों की नाभिकीयता में शब्दावलियों की भिन्नता के बावजूद ‘निर्वाण’ और ‘मोक्ष’ का ही संपुट करता है। भारत का ऐतिहासिक और समकालीन अनुभव तो और भी कटु है। समय रहते इस नई नैतिकता के संस्थापन में सफल नहीं हो पाने के कारण ही हम आपस में लड़ते-लड़ते देश विभाजन के राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्घटना की चपेट में पड़ते चले गये। यशपाल का साहित्य इस राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्घटना से भी बहुत उन्मथित है। अपनी कहानियों के सूत्र का संकेत करते हुए यशपाल यह भी कहते हैं--

‘अपनी रचनाओं के मूलभूत सूत्र के बारे में कहना है: व्यक्ति और समाज का जीवन परंपरागत नैतिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसरण करने के लिए नहीं है। समाज की नैतिक मान्यताओं का प्रयोजन सामाजिक व्यवस्था में और समाज के उत्तरोत्तर विकास में

सहायक होना है। समाज की परिस्थितियों और जीवन-निर्वाह के तरीकों में परिवर्तन स्वीकार करके अतीत में स्वीकृत मान्यताओं को अपरिवर्तनीय मानने का आग्रह संगत नहीं हो सकता। अतीत की अथवा परंपरागत मान्यताओं को समाज की वर्तमान परिस्थितियों और अवश्यकताओं की कसौटी पर परखने में और उन्हें समयानुकूल बनाने में झिझक समाज के लिए घातक होगी। परंपरगत सामाजिक नियमों और मान्यताओं को अपनी सामयिक परिस्थितियों आवश्यकताओं के अनुकूल बना सकने की चेतना निरंतर परिवर्तन के प्रवाह में समाज की शाश्वत आवश्यकता अथवा समस्या है। इस शाश्वत अथवा मूल सामाजिक समस्या की अभिव्यक्ति के लिए विविधता का उतना ही निस्सीम और व्यापक क्षेत्र हो सकता है जितना कि मानव-समाज के जीवन का।'[15]

मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि यशपाल का संपूर्ण साहित्य एक व्यापक अर्थ में नये संदर्भों के अनुकूल वास्तविक नैतिकता के नये आयामों की तलाश है। इसी तलाश में वे इतिहास को न सिर्फ खँगालते हैं, बल्कि जरूरत पड़ने पर अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति में विचार के विनियोग से उसे नया रचाव भी प्रदान करते हैं। यशपाल का साहित्य हिंदी साहित्य के इतिहास का अनिवार्य हिस्सा है। इतिहास इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण होता है कि वह हमें वर्तमान को समझने का विवेक और भविष्य के गर्भ में पल रहे सौंदर्य-चेतना को सही संदर्भ में समझने और उसके स्वागत का सपना देता है। 'सच' और 'झूठ' दो ध्रुवांत हैं। कब और कैसे झूठ सच का विशेषण बन जाता है, यशपाल इस बात को बखूबी जानते हैं। नहीं जानते तो 'झूठा सच' कैसे लिख पाते! 'झूठा सच' का समर्पण, जो यशपाल की रचना-प्रक्रिया को समझने की भी कुंजी देता है यहाँ स्मरणीय है, 'सच को कल्पना से रंग कर उसी जन-समुदाय को सौप रहा हूँ, जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।'[16]

यशपाल का साहित्य साहसपूर्वक निष्ठा के साथ सच की ओर बढ़ने का हौसला देता है। न सिर्फ हौसला देता है बल्कि गत्यात्मक सच की संवेदनाओं को पहचानने, अन्वेषित और अर्जित करते रहने का कौशल भी देता है। साहित्य का सच इस अर्थ में इतिहास के सच से अलग और भिन्न होता है कि वह घटनाओं की जड़ीभूत तथ्यात्मकता से सीमित नहीं होता है। साहित्य का सच घटनाओं की सतत प्रवाही गत्यात्मक संवेदनात्मकता के स्वाभाविक साहचर्य में लगभग सारे सीमांकनों को अतिक्रमित करता हुआ सीमातीत हो जाता है। ऐसा 'सच' अपने विशेषण के रूप में 'झूठ' को भी अपनाने का सार्थक साहस रखता है। भारत का विभाजन इसकी भौगालिक संरचना को तोड़ देनेवाला राजनीतिक घटनाचक्र का ऐतिहासिक सच है। देश-विभाजन भारत की ऐतिहासिक संरचना को तोड़कर इसकी संवेदना के मूल-तंतु को भी विभाजित कर दिये

जाने के सांस्कृतिक सच का भी प्रमाण है। राजनीतिक विकलांगता को सभ्यता फिर भी थोड़ी दूर तक बर्दाश्त कर लेती है या उसका कामचलाऊ विकल्प ढूढ़ लेती है लेकिन सांस्कृतिक विकलांगता को सभ्यता न तो बर्दाश्त ही कर पाती है और न उसका कोई विकल्प ही ढूढ़ पाती है। विभाजन ने भारत को राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही स्तर पर विकलांग बना दिया। इस महाद्वीप की राजनीतिक गुणवत्ता में इस सांस्कृतिक विकलांगता की भरपाई करने के समाज-ऐतिहासिक-आर्थिक कार्यभार को समझने की बुनियादी लियाकत तो आज भी नहीं है। 'वतन' और 'देश' एक दूसरे से विच्छिन्न हो गये, 'मनुखों का देश' अब 'धर्मों का देश' बना दिया गया!

''ड्राइवर अपने स्थान से उतर कर सामने खड़ा हो गया था। तारा गाड़ी से उतरी तो ड्राइवर कह रहा था--- 'यह काफिला भी वतन छोड़कर अपना देश जा रहा है। मनुखों का देश, धर्मों के देश बन गये।'

ड्राइवर ऊँचे स्वर में बोला--- 'रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बंदों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया।'[17]

समाज में तरह-तरह की अफरा-तफरी चलती रहती है। लेकिन, इस विभाजन से पूरे देश में भयानक अफरा-तफरी मची। नैतिकता की डोर वैसे भी बहुत पिच्छल होती है। अफरा-तफरी के माहौल में नैतिकता की डोर बहुत जल्दी हाथ से छूट जाती है। इस विभाजन के बाद नैतिकता की डोर पर भारतीय समाज की पकड़ और कमजोर होती चली गई। इस विभाजन का राजनीतिक सच ही दृश्य है। अदृश्य है इसका सांस्कृतिक सच। राजनीतिक सच तो बस इतना ही है कि 'रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बंदों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया।' सांस्कृतिक सच यह है कि 'एक' था सो' दो' ही नहीं 'कई' हो गया! 'भारत' के दो फाड़ हो जाने से हर गाँव, शहर, गली कस्बे में न जाने कितने 'पाकिस्तान' और कितने 'हिंदुस्तान' बनते चले गये। बाहरी विभाजन राजनीतिक था और दृश्य था। आंतरिक विभाजन सांस्कृतिक था और अदृश्य था। अदृश्य होना अनस्तित्व का प्रमाण तो नहीं होता है! अब यह सांस्कृतिक विभाजन भी राजनीतिक चपेट में पड़कर पूरी तरह उजागर होकर भयानक दृश्य में बदलता जा रहा है। इस भयानक दृश्य पर इधर कमलेश्वर के उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' और दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम' प्रकाशित हुए हैं। विशेषकर 'कितने पाकिस्तान' का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है। 'कितने पाकिस्तान' का अदीब तथा इतिहास पुरुष का संदर्भ उल्लेखनीय है:

'और उधर तूरानी खलीफा के सातों नुमाइन्दे बादशाह सलामत जहाँगीर से मिलने के बाद सलतनत के बड़े-बड़े और अहम उमरा और हाकिमों से मिलकर गुप्त मंत्रणाएँ कर रहे

थे, उनमें से एक कह रहा था – इस्लाम परस्ती को हिन्दुस्तान परस्ती में बदल दिया जाए, यह मुनासिब नहीं है .... यही आपके बादशाह अकबर ने किया था और यही अब आपके शहंशाह जहाँगीर कर रहे हैं .... इन हालात पर आप लोग नजर रखिए .... वतन-परस्ती से ज़्यादा जरूरी है मज़हब-परस्ती!'[18]

'वतन-परस्ती' और 'मज़हब-परस्ती' के गुत्मगुत्था का ही एक नतीजा यह है कि इतिहास पुरुष एवं आलमगीर औरंगजेब जल्लाद के बीच जारी बहस के बीच लगभग बेहोश-सी हो गई सलमा इस सवाल से निरंतर जूझती रहती है;

'क्या मुसलमान होना और मुसलमान होकर जीना इतना मुश्किल बना दिया गया है .... क्या मुसलमान होकर जीने की शर्तें सिर्फ किताबों की शर्तें हैं? उनमें जिंदगी के कुदरती और बड़े उसूलों के लिए कोई जगह नहीं है?'[19]

जवाब इतिहास पुरुष देता है;

'- जगह है! इस्लाम में हर कुदरती ज़रूरत के लिए जगह है, लेकिन जब मज़हब को सियासी फायदे के लिए नफ़रत में बदला जाता है, तो एक नहीं, तमाम पाकिस्तान पैदा होते हैं! मेरी बच्ची! तुम्हारी जिन्दगी को इस गलत विभाजन ने तोड़ दिया है, क्योंकि इन लोगों ने एक मज़हब के तहत एक कौम, एक मुल्क और एक तहज़ीब को तकसीम किया है!'[20]

यानी, 'रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बंदों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया।'[21]

कहना न होगा कि औद्योगीकरण के बाद तकनीकीकरण के जिस मुनाफा केंद्रित युग में हम प्रवेश कर रहे हैं, उसमें ज्ञान को सूचना से और विज्ञान को तकनीक से विस्थापित करने की तीव्र प्रवणता है। समरस, स्वत्वपूर्ण, स्वतंत्र और समतामूलक समाज के निर्माण के स्वप्न का सिराजा बिखरता जा रहा है। राजनीति हो या धर्म ही क्यों न हो उनके ढाँचों से मानवीय अंतर्वस्तु बहुत तेजी से कूच कर रही है। क्या पता साहित्य में भी यह प्रवृत्ति भीतर-ही-भीतर सक्रिय हो! ऐसी नैतिकता जिसमें 'जिंदगी के कुदरती और बड़े उसूलों के लिए कोई जगह' हो आज हमारी वैयक्तिक और सामाजिक जरूरत है। इन स्थितियों में नई नैतिकता की तलाश आज हमारे सामने एक बड़ी चुनौती है। ऐसे कठिन समय में यशपाल साहित्य के पाठ के पुनर्सृजन से इस चुनौती को समझने और मुकाबला करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र हमारे हाथ लग सकते हैं। इस बात की बहुत संभावना है। इसी संभावना में यशपाल साहित्य का महत्त्व अंतर्निहित है। इस संभावना को घटना में तब्दील करना तो अंतत: अपने

महत्त्वपूर्ण साहित्य के पाठ के पुनर्सृजन की हमारी सामाजिक क्षमता पर ही निर्भर है! हम कितने सक्षम हैं? इस सवाल का जवाब तो फिर इतिहास ही देगा। इतिहास! खतरे में तो खुद इतिहास भी है! क्या सचमुच! सचमुच, कहीं आसपास है वह जगह जहाँ हम गये नहीं!

संदर्भः

1मंगलेश डबराल : आवाज भी एक जगह है

2हिन्दी साहित्य का इतिहास : संपादक डॉ. नगेन्द्र

3-वही

4-वही

5-वही

6प्रकाशवती पाल : लखनऊ से लाहौर तक

7प्रकाशवती पाल : लखनऊ से लाहौर तक

8प्रकाशवती पाल : लखनऊ से लाहौर तक

9हिन्दी साहित्य का इतिहास : संपादक डॉ. नगेन्द्र

10यशपाल : मेरी प्रिय कहानियाँ : संग्रह की भूमिकाः राजपाल एंड सन्ज

11यशपालः ज्ञानदान

12 यशपालः दिव्या

13यशपालः दिव्या

14यशपालः दिव्या

15यशपाल : मेरी प्रिय कहानियाँ : संग्रह की भूमिकाः राजपाल एंड सन्ज

16यशपाल : झूठा सच का समर्पण

17यशपाल : झूठा सच : भाग- 1 : वतन और देश का अंतिम वाक्य

18कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान पृ.144

19कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान पृ.136

20- वही

21यशपाल : झूठा सच : भाग- 1 : वतन और देश का अंतिम वाक्य

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान